

राज्यसत्ता का प्रतिरोध : संस्कृति और शिक्षा की भूमिका

□ सुरेश पण्डित

शिक्षा, धर्म और संस्कृति के अंतर्सम्बन्धों और अन्तर्विरोधों पर संवाद के क्रम में प्रस्तुत लेख राजसत्ता को एक अहम् पक्ष के रूप में रखता है। तालस्ताय ने कहा था कि शिक्षा को राजसत्ता से मुक्त रखना चाहिए। यह लेख कतिपय कारणों से इसी धारणा का पक्षपोषण करता हुआ 'प्रतिरोध की संस्कृति' की सर्जना में शिक्षा की सार्थकता प्रतिपादित करता है।

अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी धर्म के नाम पर प्रचलित विसंगतियों पर कटाक्ष करते हुए कहा करते थे कि जिस सूर्य का उदय प्रकाश देने के लिए हुआ, वही अंधकार उगलने लगा है। जिस धर्म का उद्भव हुआ हिंसा मिटाने के लिए, वही लोगों में नफरत फैला एक दूसरे का गला काटने के लिए उकसाने में लगा है। धर्म जो जीवन का सर्वोपरि तत्व है वह नीचे दब गया है। उसके नाम पर सांप्रदायिक कट्टरता फैलाने वाले (स्वघोषित) धर्माधिकारी अपने स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हैं। धर्म के निमित्त की जाने वाली हिंसा को 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसे सूत्र वाक्यों के जरिये न्यायोचित सिद्ध कर सम्प्रदाय विशेष अपने अनुयायियों के अपकर्मों को दोष रहित करार दे रहे हैं। और इस प्रकार की विडंबनाओं के शिकार केवल हम ही नहीं, विश्व के प्रायः सभी देशों के विभिन्न जातियों, वर्णों में बंधे निवासी हुए हैं। दुनिया का इतिहास इस बात का गवाह है कि युद्धों, महामारियों अथवा प्राकृतिक आपदाओं से जितने लोग मरे हैं उनसे कहीं अधिक धर्म के नाम पर हुए धर्मयुद्धों, जेहादों या क्रुसेड्ज में मारे गये हैं।

धर्म का उद्देश्य था नैतिकता का प्रसार, व्यक्ति को मनुष्य बनने के लिए प्रेरित करना, एक बेहतर दुनिया बनाने के लिए मनुष्य का उदात्तीकरण। पर इन निर्विवाद एवं स्पृहणीय उद्देश्यों को दरकिनारा कर उसने लोगों में संकीर्णता, कट्टरता और पारस्परिक भिन्नता के बीज ही नहीं बोये, उनकी सहजीविता, संवेदनशीलता और समदर्शिता की भावनाओं को भी छिन्न-भिन्न किया। मनुष्य में सर्वोत्तम की स्थापना हेतु बनी धर्म की मूल परिकल्पना ने लोगों को संप्रदाय का अनुचर मात्र बनाकर उनकी उचितानुचित की विवेचन शक्ति को ही कुंद कर दिया।

क्या इसे एक उलटबांसी ही नहीं माना जाना चाहिये कि जैसे धर्म फैल रहा है नैतिकता, संवेदनशीलता व पारस्परिक सदभावना का हास हो रहा है ? उस धर्म को मान्यता मिल रही है जिसकी

धर्म शास्त्रों में दी गई परिभाषा से कहीं समरूपता नहीं बैठती। अपने जीवन में, आचार-व्यवहार में, व्यापार-व्यवसाय में नितांत अनैतिक तौर तरीके अपनाने वाला व्यक्ति भी धार्मिक कहलाने लगा है। जो उपासना धर्माराधना का माध्यम होती है उसी को धर्म का पर्याय बना दिया गया है। परिणामस्वरूप उपासना के केन्द्र जो वास्तव में प्रतीक मात्र थे संघर्ष के केन्द्र बन गये हैं और एक दूसरे के इन प्रतीकों को धराशायी कर लोग अपनी जातीय अस्मिता के वर्चस्व की पुनः स्थापना तथा अपने धर्म की विजय घोषित कर गर्व स्फीत हो रहे हैं।

असल में धर्म के संप्रदाय में बदल जाने के परिणामस्वरूप उसके सर्वहितकारी रूप में आये परिवर्तन के पीछे रहने वाली सोच को तब तक समझना मुश्किल है जब तक हम राज्यसत्ता की संरचना और उसके धर्म से बने अन्तर्संबंधों का विधिवत् अध्ययन नहीं कर लेते। जब से स्त्री-पुरुष ने अपने जीवनयापन के लिये साझा संघर्ष की शुरुआत की, तभी से परिवार नाम की संस्था का बीजारोपण हुआ और इस पारस्परिक संयोजन में वर्चस्व किसका रहे, इसके लिये द्वन्द्व का आरंभ भी तभी से हुआ। शुरु में मातृ-सत्ता इस संस्था पर हावी रही। स्त्री किसी एक पुरुष की पर्यकशायिनी तब नहीं बनी थी। एकाधिक पुरुषों के संसर्ग में आने से उसके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली सन्तानें अपनी पहचान अपनी मां के नाम से ही बना सकती थीं। इसलिए मातृसत्तात्मक परिवार जो तब कुटुम्ब्या या कबीले कहलाते थे, काफी समय तक चलते रहे। प्रजनन के अतिरिक्त अन्य सभी शारीरिक क्षमताएं स्त्रियों और पुरुषों में एक समान होने के कारण उन्हें कौटुम्बिक कार्यों में न केवल प्रमुखता ही मिलती रही बल्कि उनका निर्णय अन्तिम एवं सबके लिए अनिवार्यतः अनुपालनीय होता रहा। लेकिन स्त्रियों के वर्चस्व का यह सफर अधिक समय तक निर्बाध नहीं रहा। वह प्रजनन क्षमता जो उसकी अतिरिक्त विशेषता (प्लस पॉइन्ट) बनी हुई

थी, कालान्तर में उसकी कमजोरी साबित हुई। उसी कमजोरी का फायदा उठाते हुए पुरुष ने स्त्री को सुरक्षित मातृत्व और संतानों के लालन-पालन में सहायता देने का प्रलोभन देते हुए अपने अधीन करने की कोशिशें शुरू कर दीं। इस अधीनता को सुग्राह्य, स्वेच्छया अंगीकार्य एवं चिरस्थायी बनाने के लिए उसने धर्म शास्त्र में ऐसे विधि विधान समाविष्ट करवाये जिनके अनुसार स्त्री जीवन के लिए पतिव्रत, सतीत्व एवं अखण्ड सौभाग्य आदर्श बन गये। गृहस्वामिनी, अर्धांगिनी, माता एवं देवी आदि महिमा मंडनकारी विशेषणों से आभूषित कर धीरे धीरे उसे घर में रहने, गृहस्थ का दायित्व वहन करने के लिए तैयार कर लिया गया। पुरुष द्वारा पहले परिवार पर और बाद में समाज में अपना वर्चस्व कायम करने और उसे बनाये रखने के लिये धर्म के उपयोग की दिशा में उसका संभवतः यह पहला कदम था।

निश्चय ही यह कदम सामाजिक समरसता बनाने और उसे काफी समय तक कायम रखने में काफी उपयोगी साबित हुआ। इसने परिवार नामक इकाई को दृढ़ किया जिसके फलस्वरूप समाज व्यवस्था सर्वत्र गतिशील रहते हुए भी अपने मूल्यों, आदर्शों से अधिकतर विचलित नहीं हुई। परिवार एवं समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों के बीच अपने-अपने कर्तव्यों व अधिकारों को लेकर विशेष टकराहट नहीं हुई। परिवार और समाज में वर्चस्व स्थापित हो जाने और धर्म का वरदहस्त मिल जाने का परिणाम यह हुआ कि पुरुषों ने अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करते हुए सीमातीत स्वच्छंदता का उपयोग करना चालू कर दिया। स्त्रियां इस प्रकार की निरंकुश प्रवृत्तियों से आहत ही नहीं हुईं बल्कि क्षुब्ध व कुपित भी हुईं। किन्तु धर्म की आरोपित लक्ष्मण रेखा ने उन्हें विद्रोह नहीं करने दिया। धर्म शास्त्रों द्वारा आरोपित अनुशासन इस तरह स्त्रियों को उनके मानवोचित अधिकारों से भी वंचित कर पुरुषों की निरंकुशता बर्दाश्त करवाते रहने का साधन बना।

परिवार की तरह सामाजिक विवादों को मिटाने के लिए चाहे विभिन्न देशों में अलग-अलग तरह की व्यवस्थाएं रही हों लेकिन इनकी लगाम पुरुषों के हाथों में रही और उन मुखियाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित रखने के लिए पंचायत प्रमुखों, ग्राम सभा प्रधानों, जमींदारों, सामंतों से लेकर राजाओं महाराजाओं को पंच परमेश्वर, अन्नदाता, घणी खम्मा, देवता, स्वामी, क्षत्रप, भूपति, नरेश जैसे अति मानवीय विभूषणों से संबोधित करने की परंपरा ही नहीं डाली गई बल्कि उन्हें परमेश्वर का प्रतिनिधि बनाते हुए उनके अनुरूप सम्मान प्रदान करने की व्यवस्था भी की गई। इनकी

अवमानना, आज्ञा का उल्लंघन एवं इनके कार्यकलाप की आलोचना मात्र को अधार्मिक कृत्य करार दिया गया। इस तरह धर्म का राज्य के साथ गठजोड़ एक दूसरे के हितों की रक्षा करने में लगा रहा। राज्यतंत्र ने धार्मिक अनुशासन को बनाये रखने और धर्मतंत्र ने राजा की प्रतिष्ठा बनाये रखने के भरसक प्रयत्न किये। दोनों के अनुचित कार्य भी इस प्रकार लोगों की आलोचना के मुद्दे नहीं बन पाये। ऐसे उदाहरण दुनिया के इतिहास में शायद ही कोई मिलें जब इन दोनों में परस्पर मुठभेड़ की नौबत आई हो। यद्यपि दोनों में वर्चस्व के लिए प्रतिद्वन्द्विता अन्दर ही अन्दर हमेशा चलती रही।

प्रारंभ में ही दोनों ने अपने अपने कार्य क्षेत्र अलग अलग कर लिये थे। राज्य सामाजिक गतिविधियों को नियंत्रित करते थे तो धर्म समाज और व्यक्ति के रिश्तों को नियमित कर उनके लिये करणीय व अकरणीय कार्यों का निर्धारण करते थे। मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले लोगों को धर्म परलोक का भय दिखाकर और राज्य दण्ड व्यवस्था से अनुशासित करते रहे। दोनों ने दैवीय अधिकारों (डिवाइन राइट्स) के बलबूते पर अपने विरुद्ध कुछ सोचने को भी पापकर्म करार दिया। इस व्यवस्था को बनाये रखने और उसके औचित्य को प्रतिष्ठित करने के लिए तो लोग अपनी बुद्धि व ज्ञान का उपयोग करने में संकोच नहीं करते थे। हां, समाज में राजन्य वर्गों द्वारा किये जाने वाले अन्यायों, अनाचारों के बारे में मुंह खोलना उन्हें गवारा नहीं होता था। जब कभी इस तरह का कोई दुस्साहस करता भी था तो धर्म और राज्य उसे ईश्वरीय विधान में हस्तक्षेप घोषित कर दण्डित करने में कोताही नहीं बरतते थे। सुकरात, गैलिलियो व जॉन ऑफ आर्क ने ये गलतियां की जिसकी सजा तत्कालीन धार्मिक, राजनयिक सत्ताओं ने बिना हिचकिचाये देने में देर नहीं की। यद्यपि अपनी उन गलतियों के कारण ही वे आज विश्ववन्द्य बने हुए हैं।

धर्म ने राज्य का अथवा राज्य ने धर्म का अधिक इस्तेमाल अपना दबदबा बनाये रखने के लिए किया इसका आकलन करना तो कठिन है लेकिन यह सच है कि दोनों ने ही अपने हितसाधन के लिए शिक्षा को उपकरण अवश्य बनाया। शिक्षा का संपूर्ण इतिहास इस तथ्य का गवाह है कि वह कभी सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं रही। शिक्षा के लिये शिक्षा अथवा मात्र ज्ञानाराधन के लिये शिक्षा जैसी बातें कहने को कही जाती रहीं पर इन्हें मूर्त रूप कभी नहीं मिला। धर्म अथवा राज्य यथासमय इसका उपयोग अपनी अपनी स्वार्थ सिद्धियों के लिये करते रहे। राज्य और धर्म के गुप्त गठबंधन का परिणाम सर्वत्र यह रहा कि

शिक्षा कभी धर्म या राज्य निरपेक्ष नहीं रही बल्कि हकीकत तो यह है कि सदा इसे या तो राज-काज के लिए उपयोगी नागरिक तैयार करने अथवा धर्म-आचार के शास्त्रों-संहिताओं द्वारा समाज को अनुशासित रखने के लिये उपयोग में लाया जाता रहा। आश्चर्य है धर्म शास्त्रों के अनुशीलन तथा आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व एवं उनके अन्तर्संबंधों पर तो अनवरत वाद विवाद होता रहा लेकिन समकालीन राजनीति या धर्म में व्याप्त क्षुद्र स्वार्थों, दुराचरणों व पाखण्डों से गिरते देश के हालात को कभी चर्चा का विषय नहीं बनाया गया। धर्म और राज्य द्वारा बलात् गृहीत विशेषाधिकारों पर प्रश्न उठाने और लोगों को उनका सामूहिक

प्रतिरोध करने के दुस्साहस को संगठित करने का प्रयास कभी किसी आचार्य या शिक्षाविद् द्वारा नहीं हुआ। क्या इसका मतलब यह नहीं है कि शिक्षा का निजीकरण होते हुए भी शिक्षकों-आचार्यों को यह छूट कभी नहीं दी गई कि वे वर्तमान स्थितियों में सुधार लाने के लिए जनमानस को तैयार कर सकें। सत्तासीन शासकों व धर्माधिकारियों की गुप्त व्यवस्था यही रही कि शिक्षा द्वारा यथास्थिति का पोषण हो। उनके कर्मों व चरित्रों को उचित, न्याय संगत व आदर्श मनवाने वाली तर्क-विद्या को प्रोत्साहित किया जाये। ऐसे शिक्षकों

को समादृत पुरस्कृत किया जाय जो राज्य और धर्म के प्रति वफादार नागरिक अधिकाधिक संख्या में तैयार करने के लिये प्रयासरत हों। शिक्षार्थियों को ज्ञान वृद्धि एवं मानसिक विकास के लिये तर्क व मीमांसा करने की उतनी ही स्वतंत्रता दी जाये जिससे व्यवस्था के यथावत् चलते रहने में विघ्न उत्पन्न न हो।

अठारहवीं सदी के अन्त तक धर्म और राज्य की यह अदृश्य सांठगांठ प्रायः सब जगह चलती रही। बीसवीं सदी के प्रारंभ में ज्ञान-विज्ञान और बाद में प्रौद्योगिकी ने दुनिया को बाहर और अन्दर से बदलना शुरू किया और इस बदलाव ने धीरे धीरे गति इतनी तेज की कि आज जब हम सौ साल पहले की दुनिया का सिंहावलोकन करते हैं तो हैरान हो जाते हैं कि हम से मात्र एक दो पीढ़ी पहले के लोग कितने भिन्न थे! कि तबसे अब तक दुनिया कितनी बदल गई है! राजशाही और सामन्तशाही दुनिया के प्रायः सभी देशों से विदा हो गई हैं। जहां हैं वहां अब उनका

सर्वप्रभुत्व संपन्न स्वरूप नहीं रहा है। सत्ता में लोगों की अप्रत्यक्ष भागीदारी न केवल पैदा हुई है बल्कि तेजी से बढ़ी भी है। धर्म, वर्ण और लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को दूर करने के लिये लोगों में चेतना विकसित हुई और दबाव बढ़े हैं। मानवाधिकार के साथ साथ स्त्रियों और बालकों के अधिकार बहाल करने की मांग जोर शोर से उठी है। औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकीय विकास, सूचना क्रांति और वैश्वीकरण आदि ने मिलकर दुनिया के भौतिक और मानसिक स्वरूप में सीमातीत परिवर्तन किये हैं। पुरानी मान्यताओं और परंपराओं की गहराई से समीक्षा कर लोगों ने उन्हें वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में आवश्यक

संशोधनों, परिवर्तनों के साथ उपयोग में लाने योग्य बना लिया है। देश विदेश के शिक्षाविद् और समाजशास्त्री मानने लगे हैं कि शिक्षा संस्कृति की एक महत्वपूर्ण एवं अभिन्न सह प्रक्रिया है और जब मनुष्य का जीवन ही तेजी से बदलता जा रहा है तो शिक्षा के सरोकार भी वे ही नहीं रह सकते जो पहले कभी रहा करते थे। मनुष्य चूंकि अब धर्म से उतना संचालित नहीं होता तथा राज्य से भी सीधा सीधा नियंत्रित नहीं होता इसलिये शिक्षा पर से दोनों के प्रभावों में कमी आई है और शिक्षा की भूमिका पर पुनः विचार होने लगा

है। गंभीरता से सोचने पर लगता है कि संस्कृति की तरह शिक्षा को भी किसी एक सर्वसम्मत परिभाषा में बांधा नहीं जा सकता। रेमण्ड विलियम्स तो साफ साफ कहते हैं कि अंग्रेजी भाषा में 'कल्चर' की तरह 'एजुकेशन' भी उन जटिलतम शब्दों में से एक है जिसकी स्पष्ट, बोधगम्य शब्दों में व्याख्या नहीं की जा सकती। फिर भी इसे एक ऐसी मानवीय गतिविधि के रूप में मान्यता प्राप्त है जिसके द्वारा समाज अपनी नई पीढ़ी तक अपने मूल्य और आचार, विचार संप्रेषित करता है और इस तरह अपनी निरन्तरता कायम रखने की कोशिश में लगा रहता है। स्कूली या संस्थागत शिक्षा इस वृहत् उत्तरदायित्व की संपूर्ति का एक छोटा सा घटक है। क्योंकि इस औपचारिक शिक्षा की उत्पत्ति ही बहुत बाद में हुई है जबकि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया तो पढ़ने की विधाओं के आविष्कृत होने से भी पहले मनुष्य जाति के जन्म के साथ ही चलती आ रही है।

देश विदेश के शिक्षाविद् और समाजशास्त्री मानने लगे हैं कि शिक्षा संस्कृति की एक महत्वपूर्ण एवं अभिन्न सह प्रक्रिया है और जब मनुष्य का जीवन ही तेजी से बदलता जा रहा है तो शिक्षा के सरोकार भी वे ही नहीं रह सकते जो पहले कभी रहा करते थे। मनुष्य चूंकि अब धर्म से उतना संचालित नहीं होता तथा राज्य से भी सीधा सीधा नियंत्रित नहीं होता इसलिये शिक्षा पर से दोनों के प्रभावों में कमी आई है और शिक्षा की भूमिका पर पुनः विचार होने लगा है।

दरअसल इस स्कूली शिक्षा का जब से अविष्कार हुआ है राज्य के नियंत्रण का भी विस्तार हुआ है । इसके सरोकार तय करना तथा उनको अमली जामा पहनाने के लिए पाठ्यक्रम बनाना, पाठ्य पुस्तकें लिखवाना, उन्हें छपवाना, उनको पढ़ाने के लिए शिक्षण-विधियां तय कर उनमें शिक्षकों को प्रशिक्षित करवाना और फिर जांचने की तकनीक निश्चित कर इस बात का मूल्यांकन करवाना कि संप्रेषित विषयवस्तु को शिक्षार्थियों ने कितनी प्रतिशतता में ग्रहण किया अथवा नहीं किया है, आदि समग्र क्रियाकलाप सरकारों ने अपने हाथों में ले लिये हैं । क्योंकि वे अब सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो गई हैं । परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा पर से धर्म या समाज का नियंत्रण काफी कम हुआ है । यद्यपि अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए यत्र-तत्र गैर-सरकारी शिक्षा संस्थान अपने धार्मिक या जातीय मान्यताओं-अवधारणाओं को पाठ्यक्रम में सन्निविष्ट करने की कोशिशों में लगातार लगे रहे हैं फिर भी इस समय शिक्षा की मूल विषयवस्तु हर जगह धर्म विशेष की जकड़नों से मुक्त होती नजर आ रही है । राज्यों के भी सीधे हस्तक्षेप तो इस क्षेत्र में कम होते जा रहे हैं लेकिन अपने हितों के अनुरूप और युग की आवश्यकताओं के अनुकूल सरकारें अपनी शिक्षा व्यवस्थाओं तथा शिक्षण सामग्री में फेरबदल करने में संकोच नहीं कर रही है ।

धर्म का प्रभाव कम होने अथवा शिक्षा के धर्म निरपेक्ष बनते जाने का परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक रूढ़ियां तथा धार्मिक पाखण्डों का विखण्डन होने लगा है । व्यक्ति मन से अधिक उदार और दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक बनने लगा है । पर उसका यह मानसिक विकास शिक्षा की उस परिभाषा को निहायत अप्रासंगिक बनाये दे रहा है जिसके अनुसार शिक्षा समाज के मूल्यों व आचार-विचारों को नई पीढ़ी में स्थानांतरित कर उसके माध्यम से स्वयं को निरन्तर बनाये रखने की कोशिश करती है । इसके विपरीत अब राज्य प्रवर्तित शिक्षा ऐसा संसाधन बनने लग गई है जो सत्ता को शक्ति संपन्न व अविजेय बनाये रखने के लिये अधिकाधिक संहारक उपकरण बनाने व मुहैया करने में मदद करती है । शिक्षा का उपयोग अब ऐसे वैज्ञानिक व अर्थशास्त्री तैयार करने में होने लगा है जिनसे मानव सभ्यता को पूर्णतः नष्ट कर देने वाले हथियारों और अधिकतर देशों के बाजारों को नियंत्रित करने की क्षमता किसी देश विशेष के हाथ में आ जाए । हर देश की सरकार आज अपनी अपनी शिक्षा व्यवस्था को इस प्रकार ढालने में लगी है जिससे अधिकाधिक वैज्ञानिक, उद्योगपति, तकनीकी विशेषज्ञ, उत्पादक, व्यापारी आदि

पैदा हों । दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, भाषाविद्, साहित्यकार, कलाकार अथवा धर्मशास्त्री निर्मित करने वाले पाठ्यक्रमों को अब निरन्तर हाशिये की ओर धकेला जा रहा है । इसलिए प्रबुद्ध चिंतकों और मानवहित के सरोकारों से प्रतिबद्ध लोगों के सामने यह सवाल पूरी विकरालता के साथ आ खड़ा हुआ है कि धार्मिक अंधविश्वास, पाखण्ड एवं राज्य की स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय देने वाली पुरानी शिक्षा अधिक मानव विरोधी थी या राज्य को अधिकाधिक घातक हथियारों और विश्व बाजार पर नियंत्रण करने की क्षमता से संपन्न करने वाली वर्तमान शिक्षा । और शिक्षा की इस विकृति पर सबसे पहली दुर्धर्ष प्रतिक्रिया 1940 में सुविख्यात लेखक बर्टोल्ल ब्रेख्त ने इन शब्दों में व्यक्त की-

पुस्तकालयों के भीतर से निकलते हैं हत्यारे
बच्चों को चिपटाये हताश खड़ी माताएं
इन्तजार करती आकाश टटोलती
देखती हैं प्रोफेसरों की नीवनतम खोजें ।

इवान इलिच इस बात पर आश्चर्य प्रकट करने से स्वयं को रोक नहीं पाते कि यह औपचारिक स्कूली शिक्षा इतनी पश्चात्ताप विहीन तथा परजीवी स्वरूप वाली क्यों है कि जिस समाज और मानव जाति का शोषण कर यह अपना शरीर पुष्ट करती है उसी को मारने के लिए तरह तरह के विध्वंसक हथियार बनाती है । अल्डुअस हक्सले तो शिक्षा की इस आत्मघाती मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं - 'मानवता के इन महान उपकारकों को उचित सम्मान और अभिनन्दन मिलना चाहिये । आइये हम प्रोफेसरों का एक स्मारक बनायें और उसे जापान या जर्मनी के उन स्थानों पर कहीं स्थापित करें जहां मानव कंकाल अभी भी इनकी गरिमामयी उपलब्धियों की प्रशंसा में गीत गा रहे हैं ।' सचमुच इनके अविष्कारों का ही कमाल था कि जर्मनी के ड्रेस्डन शहर में एक ही दिन में एक लाख पैंतीस हजार नर नारी मौत के घाट उतार दिए गये । सोवियत संघ में मृतकों की संख्या दो करोड़ तक पहुंचा दी गई । जापान के हिरोशिमा और नागासाकी को पलक झपकते ही नेस्तनाबूद कर दिया गया । बेशक वे वैज्ञानिक अपने मालिकों की आज्ञा का पालन कर रहे थे लेकिन यह भी सच है कि वे वह सब कर ही नहीं पाते यदि उनके मालिक उन्हें इसके लिये आवश्यक संसाधन व सुविधाएं उपलब्ध नहीं करवाते । फिर भी एक ऐसे काम के लिये जो इतने बड़े पैमाने पर कहर डाने वाला हो सकता था, स्वयं को जानते बूझते प्रस्तुत कर देना एक ऐसा

अपराध है जिसे किसी भी हालत में माफ नहीं किया जा सकता। अफसोस तो यह है कि आज भी विश्व का शिक्षक समाज अपनी इन उपलब्धियों से सन्तुष्ट नहीं हुआ है। आज भी वह अपनी ही जाति का मूलोच्छेदन करने के लिये अधिकतम विध्वंसकारी उपकरण बनाने की अपनी आकाओं की इच्छापूर्ति में जुटा है। पेन्टागन तथा अन्य सैन्य मुख्यालय अपनी संहार क्षमता बढ़ाने के लिए इतनी धनराशि लुटा रहे हैं जिससे दुनिया के करोड़ों लोगों की जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी की जा सकती हैं - बच्चों को कुपोषण और उससे होने वाली असामयिक मृत्यु से बचाया जा सकता है। फिर भी विश्व का शिक्षक समुदाय जो सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक संपदा का मालिक है, जिसमें अकूत रचनात्मक क्षमताएं हैं, वह कभी स्वयं को करोड़ों लोगों की हत्या का संसाधन बनाने वाले तंत्रों के खिलाफ विद्रोह नहीं करता। मनुष्य जाति को पृथ्वी से समूल नष्ट कर देने की इन जघन्य योजनाओं में भागीदार होने से मना न करना क्या इस बात को साबित नहीं करता कि हमारी शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में नाकामयाब हो गई है? शिक्षा कभी यह सिखाने के लिये नहीं दी जाती कि मनुष्य स्वयं अपना, अपने भाइयों, मित्रों व पड़ोसियों की हत्या का निमित्त बने। वह तो बल्कि उसे आग से खेलने से मना करती है। वह मनुष्य को स्वतंत्र करती है। उसे अपने विवेक से काम करने के लिये तैयार करती है। पर लोग सभी तो एक जैसे नहीं होते। सबको एक जैसी शिक्षा दी जाती है फिर भी कोई साधु बन जाता है तो कोई ठग। ऐसे वैज्ञानिक भी हैं जो समय समय पर अपने सहकर्मियों के विभिन्न सरकारों द्वारा किये जाने वाले दुरुपयोगों के विरोध में आवाज उठाते रहे हैं। अभी पिछली 17 नवम्बर, 1992 को दुनिया भर के 104 नोबल पुरस्कार विजेताओं ने जिनमें अधिकतर वैज्ञानिक थे, 1750 अन्य विश्व विख्यात वैज्ञानिकों के साथ मिलकर 'यूनियन ऑफ कन्सर्न्ड साइन्टिस्ट्स' के बैनर तले एकत्र होकर संयुक्त रूप से एक वक्तव्य जारी किया था जिसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच संभावित टकराहट की चेतावनी विश्व को देते हुए यह बताया गया था कि अगले कुछ ही दशकों में मनुष्य मात्र के अस्तित्व के लिए संकट उसी के कुकर्मों के चलते बढ़ने वाला है।

अब हमें बड़ी शिद्दत के साथ यह अहसास होने लगा है कि हमने शिक्षा को अपने हाथों से सरकारों को सौंपकर कितनी बड़ी भूल की है। यदि समाज शिक्षा की बागडोर अपने ही हाथों थामे रहता तो निश्चय ही दुनिया की तस्वीर कुछ और ही होती। समाज द्वारा संरक्षित, संचालित शिक्षण संस्थाएं निस्सन्देह संस्कृति को समृद्ध एवं उन्नत करने वाले नागरिक तैयार करतीं और उन्हें

आत्मविनाशकारी दुष्कर्मों से बचने के लिए प्रेरित करती। गिबबन तो स्पष्ट कहता है कि आज जो विश्व में बर्बरतावादी संस्कृति का फैलाव हो रहा है उसका एकमात्र कारण शिक्षा का पक्षाघात-ग्रस्त हो जाना है। इस दरिन्दगी से, बहशीपन से निजात भी यदि कोई दिला सकता है तो वह शिक्षा ही है।

तो फिर हमें क्या अब शिक्षा में पसरते उस प्रदूषण पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिये जो विभिन्न देशों की सत्ताओं-सरकारों द्वारा चाहे वे लोकतांत्रिक हों या एकाधिकारवादी, अपना वर्चस्व, स्थायित्व, श्रेष्ठता बनाये रखने के लिये उत्पन्न किया जा रहा है? इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा मनुष्य में आलोचनात्मक, तार्किक व वैज्ञानिक प्रवृत्ति को अधिकाधिक विकसित किया जाए ताकि वह शासकों की उसके खिलाफ की जा रही साजिशों से न केवल स्वयं को विच्छिन्न रख सके बल्कि उनका भण्डाफोड़ भी कर सके। यह तभी संभव है जब शिक्षा का संस्कृति के साथ प्रगाढ़ सामंजस्य हो। दोनों में एकात्मकता पैदा की जाए। इससे शिक्षा में संस्कार, नीर-क्षीर विवेक तथा संवेदनशीलता तो बढ़ेगी ही, पाओलो फ्रेरे के शब्दों में लोगों में सदियों से व्याप्त जड़ता या निस्स्पन्दता भी टूटेगी। फ्रेरे शिक्षा को उन मूल्यों-विचारों का संवाहक बनाने की बात करते हैं जो उत्पीड़क शक्तियों के विरोध में लोगों को चट्टान की तरह खड़ा होने के लिए तैयार कर सकें। मनुष्य के सामने आज जो उसके अस्तित्व का संकट आन खड़ा हुआ है उसका एक कारण सजीव मनुष्यों को एक स्वचालित मशीन के रूप में बदल देने का भी है। इस मशीन में सब कुछ है केवल हृदय नहीं है। इसलिये ये सब कुछ कर सकती हैं केवल महसूस नहीं कर सकतीं। इसे एक जैविक इकाई के रूप में नकारना इसकी ज्ञानेन्द्रियों को स्पन्दन-शून्य बना देने जैसा है। ऐसे व्यक्ति का उपयोग सत्ता आसानी से कर सकती है। इसीलिये शिक्षा को निरन्तर ऐसा बनाया जा रहा है जो मनुष्य का मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि एक संसाधन के रूप में विकास करे।

ज्ञान के किसी भी क्षेत्र को समग्र रूप में न लेकर उसके अंगों को अलग अलग कर उनमें विशेषज्ञता प्रदान करने की प्रक्रिया ने भी शिक्षा के लोकोपकारक सरोकारों को क्षति पहुंचाई है। केवल विज्ञान पढ़ना उसमें भी भौतिक या रसायन विज्ञान का विशेष ज्ञान प्राप्त करना जहां विज्ञान की अन्य शाखाओं में व्यक्ति की जानकारी को बिल्कुल सीमित कर देता है वहीं कला अथवा वाणिज्य के विषयों की मूलभूत बातों की समझ

से उसे बिल्कुल ही काट देता है । इस तरह एक विषय-विशेषज्ञ ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से नितान्त अछूता रह जाता है जबकि आज की दुनिया को समझने के लिए इन विभाजक दीवारों का ढहाना जरूरी होता जा रहा है ।

शिक्षा को संस्कृति की सहप्रक्रिया मानने पर प्रश्न यह सामने आता है कि शिक्षा संस्कृति से प्रभावित होती है या संस्कृति पर शिक्षा का प्रभाव पड़ता है ? लेस्ली व्हाइट सरीखे अकेडेमिशियन का मानना है कि शिक्षा संस्कृति से प्रभाव ग्रहण करती है । तात्पर्य यह है कि शिक्षा समाज में पैदा हो रहे रोगों का इलाज नहीं कर सकती । उससे सामाजिक परिवर्तन या सांस्कृतिक अवमूल्यन में सुधार की अपेक्षा करना गलत है । उनकी यह मान्यता उस स्थिति में तो सही हो सकती है जब शिक्षा को उसके व्यापक अर्थों में न लेकर औपचारिक स्कूली शिक्षा के पर्याय के रूप में ले लिया जाए । लेकिन जब उसे संस्थागत दायरे से बाहर निकालकर अनौपचारिक या गैर औपचारिक रूप में ले लिया जाता है तो परिदृश्य उतना हताशाजनक नहीं रहता, बल्कि यह सामाजिक आलोचना की, बौद्धिक असहमति की और अनेक प्रकार के प्रतिरोधीकारी आन्दोलनों की प्रेरक भी बन जाती है और शिक्षा का यही स्वरूप है जिसकी पाओलो फ्रेरे व बर्ट्रेन्ड रसल से लेकर महात्मा गांधी तक पुरजोर वकालत करते हैं । परन्तु शिक्षा के इस गैर औपचारिक स्वरूप से पैदा किये जाने वाले क्रांतिकारी परिवर्तन भी आज प्रौद्योगिकी उत्पादों की आसानी से उपलब्धता के कारण कठिन होते जा रहे हैं । ये उत्पाद लोगों में यथास्थिति बनाये रखने के उपादान साबित हो रहे हैं । प्रौद्योगिकी के चमत्कार बौद्धिक वर्ग में भी दिशाभ्रम पैदा कर रहे हैं । यही वजह है कि आज पहले की तरह स्थितियों को बदलना कठिन होता जा रहा है । अतः यदि शिक्षा को सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करना है तो उसे प्रौद्योगिकी के वे उत्पाद जो ऊपर से युद्ध अथवा सैन्य सामग्री से संबंधित नहीं दिखाई देते, वे भी अन्दर ही अन्दर शासकों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को पोषण देने वाले ही होते हैं । यही वजह है कि आज शिक्षा को पहले से कहीं अधिक सचेत व उद्देश्यनिष्ठ बनाये जाने की आवश्यकता है जिससे उन सारे विचारों और भ्रमों का मूलोच्छेदन किया जा सके जो आज मनुष्य के अस्तित्व को भस्म करने के लिए सन्नद्ध हो रहे हैं ।

संस्कृति मनुष्य को संस्कारित करती है यह व्यक्ति को मनुष्य बनाने का तथा मनुष्य के उदात्तीकरण का एक महाभियान है । इसके तीन संघटक तत्त्व होते हैं - (1) बोधात्मक (2) रचनात्मक और (3) नियामक । यही प्रमाणित करती है कि मनुष्य के पास केवल बुद्धि ही नहीं चेतना भी होती है । सिर्फ आवश्यकताएं ही नहीं मूल्य भी होते हैं । सिर्फ अतीत ही नहीं इतिहास भी होता है । वह संस्कृति का निर्माण भी करता है और उससे निर्मित भी होता है । मनुष्य ने जब मांसाहार से विरत हो अन्नोत्पादन के लिये जमीन जोतने व बोने की शुरुआत की थी तभी प्रकृति से मुठभेड़ के लिए आवश्यक उपकरणों का आविष्कार कर लिया था । उसके बाद उसने जो कुछ खोजा या बनाया उसे विलास या विनाश की सामग्री ही माना जा सकता है क्योंकि उसके बिना वह पहले भी रहता था और अब भी रह सकता है । दरअसल इस सामग्री के निर्माण ने ही सारा गड़बड़झाला पैदा किया है । उसी को अधिकाधिक पैदा करने में पृथ्वी के संसाधन तेजी से निमडते जा रहे हैं और वायुमंडल प्रदूषित होता जा रहा है । उसी से भेदभाव निर्मित हुए हैं और विषमता की खाई चौड़ी हुई है । उपभोक्तावाद ने भोगविलास की वस्तुएं ही नहीं ध्वंस के उपकरण भी बनाये हैं । दोनों ही आज बाजार में आसानी से उपलब्ध हैं बल्कि उन्हें अधिकाधिक खरीदवाने के प्रयास तेज हो रहे हैं । परिणामस्वरूप हिंसा की मनोवृत्ति विकसित हो रही है और जीवन का मूल्य कम से कमतर हो रहा है । अफसोस है मनुष्य के अस्तित्व के लिये पैदा किये गये इस संकट का सशक्त प्रतिरोध वह धर्म नहीं कर रहा है जो शान्ति, अहिंसा और प्रेम का संदेश देता है । इसके विपरीत वह उन मुद्दों को राजनेताओं की गोद में बैठकर उछाल रहा है जो मनुष्य की बजाय शासक वर्ग के हित साधक हैं । शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपार्जन तक सीमित होकर रह गया है । इस तरह की व्यावसायिक शिक्षा व्यक्ति को इस कदर वस्तुनिष्ठ या आत्मकेन्द्रित बना रही है कि उसमें अपने लिए सुख-सुविधा जुटाने के अतिरिक्त और कुछ सूझना ही बन्द होने लगा है । ऐसी स्थिति में मनुष्य के जो कार्य और विचार राज्यसत्ता को कमजोर करने और उसे नाजायज साबित करने का काम करें उन्हें ही आज संस्कृति का परमावश्यक करणीय कार्य माना जाना चाहिये अर्थात् संस्कृति को सच्चे अर्थों में मनुष्य के उदात्तीकरण का साधन बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि उसे सत्ता का प्रतिकारक बनाया जाए ? इसके अलावा और कोई सरल विकल्प मनुष्य को बचाने का बचा नहीं है । ♦